बिज़नेस स्टैंडर्ड

बहुत कम करदाता

तकरीबन 15 साल की देरी के बाद केंद्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड ने आखिरकार देश के आयकरदाताओं से जुड़े आंकड़े पेश कर दिए हैं। कुछ समेकित आंकड़े केवल वर्ष 2000-01 और 2014-15 की समयबद्ध शृंखला में पेश किए गए हैं लेकिन इसके अलावा आकलन वर्ष 2012-13 के करदाताओं यानी वर्ष 2011-12 में हुई आय के बारे में तात्कालिक जानकारी भी दी गई है। तमाम शिक्षाविद और शोधकर्ता सरकार पर ये आंकड़े पेश करने का दबाव डाल रहे थे। इनमें फ्रांसीसी अर्थशास्त्री थॉमस पिकेटी भी शामिल हैं जो वर्ष 2013 में कैपिटल इन द ट्वेंटी फस्ट सेंचुरी जैसी लोकप्रिय किताब लिख चुके हैं। सरकार को भी इस बात के लिए बधाई दी जानी चाहिए कि वह वादे पर खरी उतरी। सरकार को अन्य सालों के करदाताओं का ब्योरा जारी करके भी अपना वादा पूरा करना चाहिए। ऐसा करने से भविष्य के शोध और इस तरह बेहतर कर नीति बनाने में मदद मिलेगी।

आंकड़ों से क्या सामने आएगा इससे जुड़े कुछ तथ्य सामने आ भी गए हैं। पिकेटी अक्सर असमानता का अध्ययन कर आंकड़ों से करते हैं और वर्ष 2015-16 की आर्थिक समीक्षा इस दिशा में मददगार रही है। उसमें यह बताया गया है कि वर्ष 2000 के दशक में देश में असमानता बहुत तेजी से बढ़ी है। यह कमोबेश अमेरिका के तर्ज पर ही हुआ है। परंतु इसके अलावा भी बेचैन करने वाले आंकड़े सामने आए हैं। शायद सबसे परेशान करने वाला तथ्य यह है कि वर्ष 2011-12 में केवल 18,358 लोगों ने ही एक करोड़ रुपये से अधिक आय होने की बात स्वीकार की। यह आंकड़ा बहुत कम है। जरा इस बात पर विचार कीजिए कि वर्ष 2013 में जगुआर, मर्सिडीज, बीएमडब्ल्यू और रॉल्स रॉयस जैसी आलीशान कारों के 33,000 से अधिक मॉडल बिके। अचल संपत्ति कारोबार का बाजार भी इस बात की पुष्टिï नहीं करता। क्रेडिट सुइस का कहना है कि देश की शीर्ष एक फीसदी आबादी 16 प्रतिशत परिसंपत्तियों पर काबिज है, ऐसे में उक्त तथ्य को कैसे माना जाए। एक और चिंता की बात यह है कि जिन 3.1 करोड़ लोगों ने रिटर्न भरा उनमें से 55 फीसदी ने कहा कि उनकी कोई आय नहीं है। केवल 20 लाख लोगों ने ही 5.5 लाख से 9.5 लाख रुपये के बीच की सालाना आय बताई। एक ऐसे देश में जहां हर साल 20 लाख कारें बिकती हैं, यह आंकड़ा बहुत कम है। कुल मिलाकर कर चोरी हो रही है या आय छिपाई जा रही है।

देश में कर आधार संकीर्ण बना हुआ है। कर वंचना की समस्या बरकरार है। कर दायरा बढ़ाने पर

विचार-विमर्श जारी रहना चाहिए। हाल ही में रियायतों को खत्म करने का जो सिलसिला शुरू हुआ है उसे गति देनी चाहिए। इस बीच कर आधार की संकीर्णता के बीच कर अधिकारियों को कुछ आत्मावलोकन करना चाहिए। संभावित करदाताओं को शामिल करने के लिए कुछ खास नहीं किया जा रहा है। कर विभाग को संभावित करदाताओं का पता लगाने के लिए आधुनिक तरीके अपनाने चाहिए। सरकार को विभिन्न स्रोतों से मिलने वाले तथ्यों की जांच करते हुए उन्हें सुसंगत बनाना चाहिए। घोषित आय से अधिक खर्च करने वाले लोगों पर ध्यान देना चाहिए। इससे अंकेक्षण बेहतर हो सकेगा।

लेकिन लोगों को जोड़ना महत्त्वपूर्ण है। कई स्रोतों से आय अर्जित करने वालों के लिए सबसे साधारण आईटी फॉर्मूला भी सात पृष्ठों का है। इसे दो-तीन पृष्ठों में समेटना चाहिए। वास्तव में ऑनलाइन और कागज रहित फाइलिंग और कर भुगतान सुनिश्चित किया जाना चाहिए। अंत में सरकार की करमाफी को इन आंकड़ों के आलोक में देखा जाना चाहिए। क्या यह कर वंचकों को प्रोत्साहित करता है? क्या यह बुरे व्यवहार को बढ़ावा देता है और भविष्य के कर वंचकों को प्रेरित करता है कि वे भविष्य में कर माफी की अपेक्षा रखते हुए व्यवस्था को धता बताएं? इन प्रश्नों के उत्तर तत्काल तलाश करने होंगे।

जनसत्ता

जंगल की आग

पंद्रहवीं लोकसभा चुनाव के समय यानी 2009 में उत्तराखंड के जंगलों में भीषण आग लगी थी और उसकी चपेट में आकर कई व्यक्तियों की जान चली गई थी।

उत्तराखंड के जगलों में लगी आग ने बहुत विकराल रूप धारण कर लिया है। यों तो जंगल में आग लगना सामान्य बात है, छोटे पैमाने पर हर साल ऐसी न जाने कितनी घटनाएं होती रहती हैं। ज्यादातर यही होता है कि इस तरह की आग का फैलना अपने आप रुक जाता है और फिर वह धीरे-धीरे शांत भी हो जाती है। लेकिन इन दिनों उत्तराखंड में जैसी आग फैली हुई है उसने

पिछले सारे रिकार्ड तोड़ दिए हैं। इससे पहले, पंद्रहवीं लोकसभा चुनाव के समय यानी 2009 में उत्तराखंड के जंगलों में भीषण आग लगी थी और उसकी चपेट में आकर कई व्यक्तियों की जान चली गई थी। इस बार भी कई लोगों की मृत्यु हुई है। दर्जनों लोगों के झुलस जाने की खबर है। पशु-पक्षी कितनी तादाद में मारे गए होंगे इसे सही-सही शायद ही जाना जा सके। पर इस आग से उन्हीं का जीवन सबसे ज्यादा संकट में पड़ा है जो जंगल की गोद में खेलते-रहते हैं। भारत की गिनती जैव विविधता के लिहाज से दुनिया के सर्वाधिक संपन्न देशों में होती है। फिर देश में जैव विविधता की दृष्टि से सबसे समृद्ध चार-पांच क्षेत्रों में एक उत्तराखंड है। देश का पहला टाइगर रिजर्व यहीं है। इसके अलावा भी वन्यजीवों के लिए कई संरक्षित क्षेत्र हैं। फिर सारा जंगल अपने आप में ढेर सारे जीव-जंतुओं का पर्यावास है। उनमें से बहुत-सी प्रजातियां ऐसी हैं जो ज्यादा दूर तक या तेजी से भाग नहीं सकतीं। वन संपदा का यह बड़ा से बड़ा नुकसान है। यह सही है कि जंगल में आग लगने के कुदरती कारण होते हैं, इस बार भी वही वजह रही होगी। तो क्या इस हादसे को एक नियति भर मान लिया जाए? कुछ लोग इस आग को ग्लोबल वार्मिंग से जोड़ कर देखते हैं। यह नजरिया इस मामले में कहां तक सही है यह विस्तृत अध्ययन से ही जाना जा सकेगा। पर यह सही है कि मौसम की शुष्कता और तेज हवाओं ने आग की भयावहता बढ़ाई है। जंगलों में पहले से लगातार कम हो रही नमी भी आग लगने या इतने बड़े पैमाने पर फैलने की वजह हो सकती है। हिमालयी ग्लेशियरों के पिघलने से जिस खतरे की आशंका जताई जाती रही है वह खतरा अब कहीं और बड़ा नजर आएगा। राज्य के जलस्रोतों पर भी इस आग का बुरा असर पड़ेगा। अर्थव्यवस्था पर भी, क्योंकि राज्य का अधिकांश राजस्व वनोपज से आता है। फिर पर्यटन पर भी नकारात्मक असर पड़ेगा, जो राज्य की आय का एक अन्य प्रमुख स्रोत है। आग पर काबू पाने के लिए एनडीआरएफ यानी राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन बल की कई टुकड़ियां तैनात की गई हैं, सेना की भी मदद ली जा रही है। पर ऐसी आग पर काबू पाने के लिए अपेक्षित प्रशिक्षण और जरूरत भर के उपकरणों की कमी है। हालांकि एनडीआरएफ एक दक्ष बल है, पर ऐसी आग पर काबू पाने के तरीके विकसित करने में उसे वक्त लगेगा। अनुभव बताता है कि इस तरह के हादसों का सामना स्थानीय समुदायों की भागीदारी के बगैर नहीं किया जा सकता। मगर इस ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया गया कि उन्हें इसके लिए प्रशिक्षित किया जाए और जरूरी उपकरण या संसाधन मुहैया कराए जाएं। हालांकि वनों की हिफाजत के लिए हर साल धनराशि आबंटित होती है, पर यह जरूरत के बरक्स बहुत कम होती है। तिस पर उसके कारगर इस्तेमाल की कोई सुव्यवस्थित योजना नहीं दिखती।

दैनिक भास्कर

लोकसभा समिति ने की सिफारिश

पानी पर राज्यों के बजाय केंद्र का हक होना चाहिए

मप्र समेत कई राज्य इसके पक्ष में, लेकिन बिहार ने जताया विरोध

भास्कर न्यूज नेटवर्क | नई दिल्ली

अगर पानी पर राज्यों के बदले केंद्र का हक कायम हो जाए तो बाढ़ और सूखा जैसी आपदाओं से बेहतर ढंग से निपटा जा सकेगा। यह सिफारिश लोकसभा की जलसंबंधी स्थायी समिति ने की है। समिति का मानना है कि पानी को संविधान की समवर्ती सूची में शामिल किया जाना चाहिए। हाल ही में सूखा संकट पर राज्यसभा में चर्चा के दौरान जदयू के शरद यादव सहित कई सांसदों ने यह मांग की थी। जल संसाधन मंत्री उमा भारती ने भी इसका समर्थन किया था। मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, हरियाणा, झारखंड, राजस्थान व गुजरात को भी इस बात से कोई आपत्ति नहीं है कि पानी पर केंद्र का हक हो। राज्य बस ये चाहते हैं कि उनका भी ध्यान रखा जाना चाहिए। लेकिन बिहार ने कहा कि पानी का हक राज्य के ही पास होना चाहिए।

स्थायी समिति ने अपनी सिफारिश में बाढ़ और सूखे पर खास चिंता जताई है। समिति का कहना है कि पानी के राज्य सूची में शामिल रहने के कारण बाढ़ प्रबंधन में केंद्र की भूमिका सीमित हो जाती है। केंद्र और राज्य के बीच बेहतर समन्वय स्थापित कर बाढ़ को रोकने या क्षति कम करने के कदम उठाने जैसी सिफारिश भी इसमें शामिल है। **शेष | पेज 9 पर**

(तेलंगाना में पानी ढूंढने गई मां बेहोश, प्यास से दो बच्चों की मौत | पेज 13)

तो मान्य होगा केंद्र का कानून

जल अभी राज्य का विषय है। समवर्ती सूची में शामिल होने के बाद राज्य के साथ केंद्र सरकार भी पानी से जुड़े कानून बना सकती है। कानून के विषय समान हुए तो केंद्र का कानून ही मान्य होता है। केंद्र के कानून के अस्तित्व में आने के साथ ही राज्य सरकार का पहले से बना कानून स्वतः समाप्त हो जाता है। हालांकि राष्ट्रीय हित के नाम पर केंद्र सरकार को समवर्ती सूची के विषयों में कानून बनाने का हक है लेकिन राज्यों के विरोध के कारण वह ऐसा नहीं कर पा रही है।

मलैया बोले- बिना अध्ययन किए कुछ कहा नहीं जा सकता

मप्र इस हक में है कि पानी को संविधान की समवर्ती सूची में शामिल किया जाना चाहिए। लेकिन जल संसाधन मंत्री जयंत मलैया ने बचते हुए यह भी कहा कि इस बारे में जब तक अध्ययन नहीं कराया जाता है, तब तक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। राज्यसभा सांसद अनिल माधव दवे जो लोकसभा की समिति के सदस्य भी हैं, ने कहा जब तक इस विषय पर चर्चा नहीं होती है, तब तक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। भाजपा सांसद सुभाष पटेल ने कहा, पानी केंद्र व राज्य, दोनों के लिए जरूरी है। इसके लिए दोनों के संयुक्त प्रयास होने चाहिए।

पानी पर राज्यों के...

बाढ़ के दौरान केंद्र की भूमिका को और अधिक कारगर बनाने की बात कही गई है। फिलहाल बाढ़ के दौरान केंद्र सरकार सिर्फ मदद करती है। राहत के लिए धन देती है। बचाव के उपाय करती है। सिफारिश के मुताबिक केंद्र की भूमिका तभी ज्यादा कारगर हो सकती है, जब जल को समवर्ती सूची का हिस्सा बना दिया जाए।

लोकसभा की जल संबंधी स्थायी समिति 2012-13 में भी ऐसी सिफारिश कर चुकी है। कई राज्यों के विरोध के चलते पहले से यह विषय विवाद में है। केंद्र-राज्य संबंधों पर आधारित जस्टिस आरएस सरकारिया और जस्टिस एमएम पूंची आयोग ने जल को समवर्ती सूची में शामिल करने के प्रस्ताव को मंजूरी नहीं दी थी। इन आयोगों का कार्यकाल 1983-88 और 2007-10 था। जल को समवर्ती सूची में शामिल करने के लिए संविधान में संशोधन करना होगा। इसके लिए दोनों सदनों में दो तिहाई बहुमत की जरूरत होगी। राज्यसभा में सत्तारूढ़ दल अल्पमत में है। इसके अलावा कम से कम आधे राज्यों के विधानमंडलों की भी सहमति चाहिए।

खतरनाक होगा पानी का केंद्र के हाथों में जाना : अगर पानी पर राज्यों की बजाय केंद्र का हक हुआ तो यह बेहद खतरनाक स्थिति होगी। इससे पानी के निजीकरण को बढ़ावा मिल सकता है जो आम लोगों के हितों के विरोध में होगा। इससे यह नुकसान भी होगा कि लोगों के पास पानी के मसले पर अपनी शिकायत करने या दबाव बनाने के मौके घट जाएंगे। आज जरूरत इस बात की है कि पानी का विकेंद्रीकरण प्रभावी तरीके से हो। पंचायतों तक पानी का हक पहुंचे। तभी बाढ़ और सूखा जैसी विपदाओं पर प्रभावी ढंग से नियंत्रण हो सकेगा। आज पूरी दुनिया में पानी पर अधिकार की लड़ाई चल रही है, इसी क्रम को केंद्र सरकार भी आगे बढ़ाना चाहती है। – **देवेंद्र शर्मा,** जल व पर्यावरण मामलों के विशेषज्ञ

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Banking on Bharat

Banks must look at rural and semi-urban markets to expand their network. They will find a veritable treasure trove.

Rural households constitute 55-60 per cent of India's population. The key to India's prosperity thus lies in increasing the affluence of this so-called Bharat. Fast moving consumer goods (FMCG) companies have long recognised the potential of this market and the penetration rates of some of their products like hair oil, shampoos and beverages, just to take a few examples, is close to saturation. Yet, the financial sector in this vast rural economy is still dominated by the unorganised segment. Rural bank lending has historically been driven by regulation through the mandated priority sector lending commitments rather than by a genuine search for business. It's still a very underpenetrated market.

Rural markets are highly dispersed and fragmented across villages and semi-urban pockets. The lack of infrastructure, such as roads and electricity, has been a problem. The need to create small-ticket offerings to cater to this market has meant that traditional business models have proved unviable. However, this has been changing rapidly and some banks have taken the lead in adjusting their strategy to exploit this untapped goldmine. Technology, particularly the growing wave of digitisation and the mobile phone revolution, has lent a helping hand as has been the government's push to energise these markets. Thus, from a banker's perspective, Bharat is on a roll — rural financial markets are in the process of taking a quantum leap in the new century.

Based on the tremendous market potential, it's vital that banks look at these deeper semi-urban and rural geographies to expand their branch network. For a first mover, this would create a long-term advantage for the incumbent, even with subsequent entry by others. A good rural strategy is to provide a complete range of appropriate products

for rural customers and replace the moneylender who has traditionally charged crippling rates for the rural poor, perpetuating a vicious cycle of debt.

The key to success in these markets is to develop appropriate products for this segment of customers, instead of offering the same products that work in urban markets. Appropriate products and fair lending rates would automatically eliminate the moneylender, as we have seen in our experience. But to achieve this, the entire paradigm of product design, sales and collection would have to be turned on its head.

A couple of examples of appropriate products would help underscore the point. For wheat farmers, the time taken between delivering the produce to the agent at the time of grain procurement and his final payment through a cheque or draft typically took 15 to 20 days. With digitisation, this process can be crunched to just 48 hours. The key steps in this dramatic shortening of turnaround time would include the issuance of a smart card to procurement agents, installation of an electronic data machine (EDM) at the mandi backed by the e-payment system RuPay, quick generation of MIS and reports and, finally, e-approvals by the procurement agency.

Comparable solutions can enable quick payment to other segments like milk producers, by leveraging the technology of Point of Sale (PoS) terminals for small operations and full-scale ATMs for larger dairy societies. The process enables the instantaneous capture of milk quantity and quality data, converting them into an accounting entry that credits the farmer's account, and a micro-ATM or cash dispenser is made available for farmers to draw money from.

Similar initiatives can be undertaken for other sectors, such as sugar and fruits and vegetables, with the bank participating at every stage of the supply chain. Banks can offer cash-flow-based working capital and loans to farmers like cattle loans and unsecured personal loans. Back-end systems can capture the entire cash flow and income profile of farmers, to ensure there's no compromise on credit standards. From our experience, for small and medium farmers who were given credit, there was a fivefold increase in savings balances. Thus, an entire culture of savings and banking took root.

However, rural banking is not just about providing customised innovations. There's a large market for an entire suite of products — car loans, two-wheeler loans, tractor loans, light commercial vehicle loans, small working capital loans to traders, personal

loans, gold loans, commodity finance, along with the more conventional agricultural credit. There's also a strong demand for savings products, ranging from basic savings accounts to recurring deposits and life and general insurance products. Of course, ticket sizes are smaller, but break-even thresholds for branches are similar to urban branches as costs are lower.

Digitisation of banking has helped access a wider range of customers in rural India. For a rural population that is mobile-enabled to a large extent, digital applications (wallets, mobile-to-mobile payments) are adding to transaction traffic by leaps and bounds. This segment is growing at twice the rate of urban India, ensuring a growth for banks in these geographies higher than market growth for the next decade.

This is not to deny that challenges remain in growing the rural markets. Financial literacy is low and incomes and livelihoods are volatile.

Any credit disbursal at the grassroot level must have a holistic approach. Along with timely credit, it's critical to conduct financial literacy and credit counselling programmes, offer skills training to enhance income generation, form self-help groups and fund these groups for income-generating activities. This enables the delivery of viable credit to the rural poor in a sustainable manner and at the same time inculcates saving and banking habits. Extending finance to the rural markets has traditionally been viewed as a social obligation enforced through diktat rather than the lure of profits. Yet, as we have discovered at HDFC Bank by successfully implementing all of these strategies, there's a veritable treasure trove in these markets. All you need is the right mix of technology, business model and outreach through targeted programmes to tap these opportunities. Bharat is rapidly catching up with India, which is a political, economic and social necessity. The fabric of society is changing, consequent to the convergence of media, telecom and computing, leaving us with no option.

THE ECONOMIC TIMES

Has corruption disappeared under Narendra Modi government?

The biggest touted achievement of the present government at the Centre is that you don't hear tales of entrenched corruption. Retail corruption would certainly appear to have come down. But has corruption disappeared?

Disappearance is a tricky word. It can denote either ceasing to be visible or ceasing to be, altogether. A stealth bomber ceases to be 'visible' but would be useless if it ceased to be. So, when we say corruption has disappeared, we have to be clear if it has ceased to be or just ceased to be visible.

Political Funding

There were few tales of large-scale corruption during the first five years of the UPA regime. Stories of mega scams on telecom and coal hit the headlines during the second term of the UPA. But all these scam charges related to decisions taken during UPA-1. The simple point is this: absence of visible corruption does not mean absence of corruption.

In that case, how do we figure out if corruption is behaving like the Cheshire cat in Alice's Wonderland, disappearing only to appear again, in whole or in parts, or is gone for good? Look at political party books. Corruption in India is not something that happens because people see an opportunity to make a quick buck by bending rules and grab it. In India, corruption is systemic. The country's glorious democracy is fuelled by corruption.

Political parties spend thousands of crore rupees: on running party offices, on paying for staff and publications, on large campaigns, on rallies that bring together hundreds of thousands of people, on the travel of leaders by plane, helicopter and cars that form long motorcades, on buying off legislators of other parties, on bribing voters with liquor in almost all states and with drugs in Punjab.

How do parties mobilise the funds to meet this gargantuan expenditure? The de jure answer is through contributions, which add up to a few hundred crore at the most on their books. The Congress shows receipts of about Rs 500 crore, the Bharatiya Janata Party (BJP), of less than Rs 300 crore. These are the numbers they file in audited accounts, in black and white. The de facto answer eschews black and white and adopts just black. Politics in India is funded almost exclusively by the proceeds of corruption.

Many methods are used, but they can be clubbed under three rubrics: sale of patronage, loot of the exchequer and plain extortion. Sale of patronage can take assorted forms, from grant of licences or captive mines to permission to steal power from the utility with impunity. Loot of the exchequer is through inflated project costs, or under-delivery of development projects for which the full funding is released from the Budget, commissions and kickbacks on procurement.

Certain clearances just don't happen unless money changes hands. Files get stuck, unless their movement is lubricated. This is extortion. When parties mobilise their political funding in this fashion, one side effect is to destroy accountability in the government. The government machinery cannot be misused without the collusion of civil servants. When they're forced to collude, some of them choose to go rogue as well and make money on their own account as well. The whole system loses integrity and accountability.

Tells the Real Tale

If ruling parties stop being corrupt, how will they mobilise the money they need for the expensive practice called politics? They have to mobilise contributions from the public at large, including from companies, with a proper, transparent record of who gave how much to whom.

Some companies do go through the motions of setting up trusts that give money to all parties in proportion to the votes they secured in the past. Some companies are more honest and do not pretend to give political donations transparently. India's largest private sector company's books show nil political contributions.

The bulk of the funds that political parties receive are off the books. Pro bono public, meaning, for the public good, is how companies should fund parties. In reality, they

fund politicians quid pro quo, strictly in return for favours, whether anti-dumping duties or minimum import prices. And that funding is off the books.

In India, only the Aam Aadmi Party funds itself in a transparent manner, with every rupee it receives displayed on the party's web site with the identity of the donor listed without ambiguity. The funding of all other parties is opaque.

If corruption comes down, the open, transparent funding of the ruling party would go up. The logic is simple. Parties need lots of money: Sarojini Naidu quipped that it takes a lot of money to keep Gandhi in poverty. You can well imagine what it takes to keep today's non-Gandhis in their splendour.

Since campaign expenses have only become ever more lavish, party funding has gone up. But contributions to party funds openly accounted for remain the same as before. Therefore, the flow of unaccounted money to party coffers has only gone up. Corruption, in other words, has only ceased to be visible, but remains potent, like the stealth bomber.